श्वेता खन्ना

9.3

विहान

डॉ. जलोटा जी को
सादर
श्वेता

23

श्वेता खन्ना

प्रथम संस्करण १९९४

प्रकाशक —
विद्या प्रकाशन
१३९/१, जानकी नगर
सामने घाट, नगुवा
वाराणसी—२२१ ००५

मूल्य — रू. ४५.००

मुद्रक —
तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी

समर्पण

जिस माँ ने मुझे असीम दिया
जिसने यह दामन भरा मेरा,
मैं क्या दूँ उसे ? समर्पित है
यह सुमन, भाव-रस-शब्द भरा—

आशीर्वचन

श्वेता खन्ना की गीति नाटिका 'विहान' प्रसाद युग का स्मरण कराने वाली स्वरूप-प्रत्यभिज्ञा की अपने भीतर की यात्रा का कथा है, जिसमें खालीपन, भटकाव और आत्मसम्मोहन की अंधेरी-सूनी गलियों के भीतर से प्रकाश की राह मिलती दिखायी देती हैं। प्रसाद के काव्यलोक से अन्तर इतना ही है कि इसमें आधुनिक युग की मानव-निर्मित विसंगतियों पर मधुर व्यंग है, जो इस नाटिका को समसामयिक भी बनाये रखता है और मनुष्य के भविष्य की उज्ज्वलता में गहरे विश्वास की अभिव्यक्ति के कारण इसे उत्तर-आधुनिक भी बना देता है।

मैं लेखिका की रचना यात्रा की उत्तरोत्तर सार्थकता की शुभकामना करता हूँ।

विद्या निवास मिश्र

श्रावण १।२०५१

काशी

दो शब्द

'विहान स्वयं अपना सन्देश-वाहक है। जिस मनःस्थिति में इसकी रचना हुई, वह विशिष्ट रही— एक ऐसा प्रसाद था वह, जो सर्वसाधरण को सहज-सुलभ नहीं होता। वह रस, वह दृष्टि, वह आलोक सभी को प्राप्त हों, यही अभीष्ट है। 'विहान' जागरण का आह्वान् है— यह आह्वान् सफल हो, विद्वज्जनों से यही आशीष अपेक्षित है।

आश्विन् शुक्ल द्वितीया **श्वेता**

संवत् २०५०

पात्र :

अजय — लेखक

ऋचा — अजय की बहन

किरण

संवेदना

प्रज्ञा

विश्वास

संकल्प

विहान

मंच निर्देश— मंच के बायीं ओर मेज़-कुर्सी, टेबल-लैम्प, समाचारपत्र, चाय की प्याली-मेज़पर । पृष्ठभूमि में वॉल-पेपर-अजय का कक्ष ।

दायीं ओर हिमाच्छादित श्रृंग-मन्दिर कलश पर फहराती ध्वजा पृष्ठभूमि में, तथा मंच पर वृक्ष के नीचे सरस्वती की भव्य प्रतिमा । पास ही थाली में पुष्प, फल धूपादि के साथ प्रदीप जो अभी प्रज्वलित नहीं हैं । प्रथम दृश्य यहीं होता है ।

मध्य में—जहाँ नाटक का अधिकांश अभिनय होगा-रिक्त स्थान ।

प्रथम दृश्य

(वीणा के मन्द स्वरों के साथ पर्दा उठता है । दायीं ओर ऋचा, मुनि-कन्या के शुभ्र परिधान में पूजा की थाली सजा रही है । शंख-घण्टा ध्वनि के साथ हिमालय पर सान्ध्य-प्रभा से रात्रि तक का दृश्य ।

क्षण-भर-पूर्ण शान्ति । फिर कदमों की आहट, निकट आती हुई रूक जाती है । ऋचा प्रसन्न मुद्रा में खड़ी हो जाती है और बायीं ओर मुड़ते हुए स्वागत की मुद्रा में स्थित हो जाती है ।)

ऋचा* — *चले आओ, अजय । तुम्हारी ही तो प्रतीक्षा है ।

(अजय का प्रवेश)

अजय* — *आप-आप जानती हैं मुझे ?

ऋचा — "आप" नहीं—"ऋचा"। बैठो, अजय। बहुत-सी बातें करनी हैं तुमसे। इसीलिये बुलाया है। वर्षगाँठ है न आज तुम्हारी ?

अजय — आप...... !

ऋचा — भूल गये ? फिर "आप" !

क्या भूल गये हो, सचमुच सबकुछ ?

अजय — (कुछ झुझँलाहट से)

ऋचाजी, जानता तक नहीं मैं आपको।

जाने कौन सी प्रेरणा से आ पहुँचा यहाँ तक !

लगता है, जानती हैं आप तो,

अच्छी तरह मुझे।

ऋचा — हाँ, अजय ! आज न तुम पहचान रहे हो,

सबकुछ भूल चुके हो बिलकुल !

याद करो तो—बचपन का वह खेल-खेल में

रूठ निकल जाना अपना तुम !

कितने प्रिय थे तुम्हें खिलौने—

जिनको पाकर भूल चुके हो, सगी बहन को।

भूल न पर सकती थी, तुमको।

बहुत सताती। याद तुम्हारी वर्षगाँठ पर—

धरे रहे उपहार हर बरस;

आज बुला ही लिया, हारकर,

आज मुझे कुछ लेना भी तो है
तुमसे, भैया मेरे ।

अजय — याद नहीं है कुछ भी मुझको ।
क्या तुम सचमुच सगी बहन हो ?

ऋचा — हाँ, एक साथ, एक दिन
जन्मे थे, दोनों ही तो ।

अजय — आश्चर्य ।—फिर क्यों भूला मैं ?
कैसे भूला ? हुआ क्या आख़िर ?

ऋचा — बस, मिट्टी के खेल-खिलौने
तुम्हें लुभाते रहे सदा ही ।
याद करो, खोलो स्मृति के पट ।
धूल-भरी मेरी छाया भी
छिपी हुई है
अन्तःस्थल में ।

अजय — यत्न करूँगा । किन्तु-बुलाया है किस हेतु ?

ऋचा — कुछ देना है-पाना भी तो है तुमसे कुछ !

अजय — पर-पर पता न था कुछ भी मुझको तो ।

ऋचा — हर्ज़ नहीं ... लाना न तुम्हें बाहर से होगा !

अजय — क्या कहती हो ?

ऋचा — बस, खोज ही तो करनी होगी ।
चलूँ अब ? पा लोगे जब,

यह दीपक माँ के चरणों में आलोकित कर देना भैया ।
स्वयं चली आऊँगी मैं भी ।

अजय — किन्तु ... कहाँ जाती हो, इस क्षण ?

ऋचा — कहीं नहीं—मैं गयी नहीं थी
कभी कहीं भी !
साथ तुम्हारे रही सदा ही, साक्षी बनकर !
देख न पाये तुम मुझको, पहचान न पाये,
भूल गये ... खो दिया स्वयं को ।
लौटूँगी फिर, निश्चय, मैं तो ।
पहले जाग तो लो तुम भैया !

अजय — रूको, ऋचा ... कुछ समझ न आता
संकेत कोई देती तो जाओ
मुझको भी तुम ।
क्या करना है ? कैसे पाऊँ ?

ऋचा — क्या करना है ? सोच रहे हो
शेष रह क्या ?
सभी कमाया-धन-दौलत और नाम मिल है !
प्राप्त सभी सुख साधन भी, ऐश्वर्य-कीर्ति !
खाली हो फिर भी ...
कहीं छिपी है अभी रिक्तता,
सूनापन-सा । एक अपूर्ण अभाव

कचोटा करता मन को !

अजय — कैसे जाना ?

ऋचा — जान ही लोगे, जल्दी, तुम भी ।

चलूँ, अभी मैं ।

अजय — सुनो, ऋचा ! ठहरो ....

कुछ तो समझा दो ।

क्या करना है अभी मुझे

कहती जाओ तो !

ऋचा — सोचो, समझो .... कुछ लिख भी डालो !

लिख डालो ऐसा कुछ अब,

जो सार्वभौम हो, शाश्वत हो जो !

(रूककर) बेहोश-सोये हैं सभी ....

लेखक हो तुम !

जगा नहीं सकते ?

अजय — कौन सुनेगा ?

ऋचा — इसकी चिन्ता क्योंकर तुमको ?

क्या बहरी है दुनियाँ सारी ?

किसे नहीं चाहिये प्रकाश ?

अजय — चाहिये मुझे भी ।

ऋचा — बाधा फिर क्या ?

अजय — कहाँ मिलेगा ?

ऋचा — खोजा भी है कभी कहीं ?

अजय — कोशिश तो मैंने की ही है ।

ऋचा — कहाँ ? अख़बारों के कुछ ढ़ेरों में, बस ?
घटनाओं के व्यूहों में तुम क्या पाओगे ?
देखेगी जो आँख तुम्हारी,
बस, अपना ही होगा जादू !
ग़ौर करो-जागे थे कभी
पलभर को भी तुम ?

अजय — कभी लगा था, पौ फटने ही वाली है, अब !
कहीं किसी ने छेड़ा भैरव ....
पर, जाने क्यों, नींद न टूटी !
सच, अब तक भी टूट न पायी ।
सूरज के सपने ही देखा किये सभी हम ....
किन्तु, नहीं देखा सूरज को,
कभी किसी ने !

ऋचा — क्यों ? तुम देख न पाये, इतने से बस ?
तुमको तो सुविधा ही थी,
इस अन्धकार में ।
मौन हो क्यों ?

अजय — क्या उत्तर दूँ ?

ऋचा — उत्तर अभी न देना होगा

खोजो पहले । मिल जायेगा

देखोगे जिस क्षण सूरज को ।

अजय — सचमुच, देखा भी है कभी किसी ने ?

ऋचा — क्या प्रमाण हैं कम इसके भी ?

सूर्य बिना क्या तुम जीवित हो ?

भूल गये क्यों युगल-क्रौंच ?

वह शाप तुम्हारा ही तो था !

अजय — क्या ? ... वाल्मीकि ?

ऋचा — तुम ही तो थे ... भूल गये क्यों ?

सब कुछ तुम तो भूल चुके हो !

जागोगे कब ?

अजय — मैं ! ... मैं ... वाल्मीकि ?

ऋचा — ... और कालिदास भी ...

तुलसी की अनन्य भक्ति तुम,

तुम मीराँ की तान मधुरतम् !

नानक की साखी, अभंग भी तुकाराम के !

दर्शन तुम ही हो कबीर के !

कविवर ठाकुर काव्य-सुधा तुम,

प्रसाद तुम्हीं प्रसाद के भी हो !

तुम ही में सब, तुम सब ही में !

अजय — रुको, ऋचा । क्या अर्थ है आख़िर

इस प्रलाप का ?
क्यों फैलाया है सम्मोहन ?
कौन हो तुम ? जानता नहीं-
जाने दो अब । उन्मुक्त करो !
बन्दी मैं न रहूँगा पलभर !
त्रस्त कर रही आख़िर क्योंकर ?

ऋचा — बन्दी !... नहीं ! नहीं कदापि मेरे बन्दी तुम !
पर निश्चय बन्दी ही हो तुम ।
ख़ुद ही को तो बाँध लिया है...
जकड़ा है, बेरहमी से ।
मुक्ति मिलेगी... निश्चय पाओगे अपने को !
मुक्त करोगे औरों को भी...
किन्तु, देखना होगा सूरज !

अजय — खोया रहा सदा ही वह तो ।

ऋचा — पा जाओगे । पहले आँखें खोलो तो तुम !
(अभय मुद्रा घूमते हुए—अजय पर स्थिर दृष्टि)
खोलो आँखें, आँखें खोलो,
(पृष्ठभूमि से सम्मिलित स्वर भी) खोलो भी अब !
आँखें खोलो,. खोलो .. आँखें., आँखें खोलो...
(प्रकाश धीरे-धीरे मन्द हो जाता है ।)

(पटाक्षेप)

दूसरा दृश्य

(अजय, अपने कक्ष में .... बायीं ओर मंच के ।

मुख पर चिन्तन-रेखाएँ । टेबल-लैम्प के प्रकाश में अख़बार देख रहा है । बीच-बीच में चाय की चुस्कियाँ भी ले रहा है । अख़बार पटक कर, सिगरेट सुलगाता है, और इधर-उधर चक्कर काटने लगता है ।)

अजय — *क्या तमाशा है यह आख़िर ?*
कौन है यह ऋचा मेरी ?
सत्य क्या है ? क्यों हूँ मैं बन्दी ?
कहाँ हूँ ? किससे पूँछूँ ?
किरण भी कोई नज़र आती नहा !

(किरण का प्रवेश .... स्वर्णिम परिधान में मंच के मध्य भाग में ।)

किरण — *मुझे बुलाया ? याद किया क्या ?*

अजय — *कौन हो तुम ?*

किरण — *नहीं पहचाना ? किरण, वही ।*

अजय — *किरण । कहाँ हूँ बतलाओगी ?*

किरण — *जहाँ तुम्हें होना ही था ।*

अजय — *कहाँ पहुँचुँगा ?*

किरण — *जाना ही है तुम्हें जहाँ !*

अजय — *.... तो, फिर ... भटका नहीं कहीं मैं, सचमुच !*

किरण — *भटके तो थे ! राह पे अब*
आने ही को हो ।

अजय — लाया मुझको कौन यहाँ तक ?

किरण — जानोगे ? है साहस तुममें ?

अजय — साहस ? क्यों ?

किरण — बस, साहस का ही अभाव है ।

साहस तो है सत्य,

सत्य से जगता साहस—

वहाँ नहीं हैं स्वप्न,

नींद का नाम नहीं है ।

अजय — समझ रहा हूँ, कुछ-कुछ अब मैं ।

किरण — यह तो है आरम्भ अभी, बस—

यात्रा लम्बी है, मिटना होगा,

तुम तुम न रहोगे ।

रह जायेंगे संवेदन, बस,

देश काल से ऊपर उठ कर,

सार्वभौम, निर्बाध-सहजतम !

अजय — तो ... तो, .. क्या .. सत्य, क्रौंच-वध ... ?

किरण — देखा था तुमही ने तो । आह तुम्हारी ही फूटी थी !

अजय — और ... "गिरिधर गोपाल" ...

किरण — "दूसरो न कोई" ... प्रपंच तो, तो, बस

इसी "दूसरे" ही का है यह ।

तभी न है यह दशा तुम्हारी !

अजय — दशा कौन-सी ?
मुझे न था कोई भी क्लेश
पता नहीं कैसे आया हूँ—
बँधा अचानक, कौन जाल में ?

किरण — मुक्ति-जाल यह है, समझो ता !

अजय — (आवेश में) मुक्त करो मुझको, छोड़ो अब,
जाने भी दो मुझको, अब तो !
राह देखते खोज रहे होंगे मुझको
मेरे अपने सब ।
कितना कुछ करना है बाकी !
कितना लिखना है,
दिखलानी है कितनों को राह !

किरण — बाँध रखा है तुम्हें किसी ने,
यह मत सोचो ।
बन्द करो, अब, उसी गली में,
उसी राह पर, आये दिन,
दिन-रात, रात-दिन भटका करना !
देखो तो यह खुला गगन—
हिमगिरि के ये शिखर तो देखो !
मुक्त पवन बहता है यहाँ—
यहाँ नहीं कोई भी बन्दी,

मुक्त दिशा है, मुक्त हवा !
दिखलाओगे पथ, निश्चय तुम !
क्या लिखना है बतलाओगे ?

अजय — कैसे कह सकता हूँ इस क्षण ?
जो भी छू लेगा मन को बस !
गाथा आधुनिका हीरों की,
मजनूँ का या आत्महनन !
दमन, शोषण, सत्ता का मद !
जनता का दुःख दर्द—
दरिद्रता, करूण कहानी,
चाहे जो करवा सकती जो !
ऐयाशी-जामों में मस्ती
छलके खूँ की लाली के सँग,
दम्भ, स्वार्थ, पर्दे पीछे चिकनी हिंसा का
अट्टहास ! बेनक़ाब कर रख दूँगा सब !
सही सही चित्रण प्रस्तुत कर दूँगा मैं भी
दानवता के हाथों दम तोड़ती हुई
मानवता का भी !

किरण — ... क्या नहीं किया था
अब तक यह सब ?

अजय — किया तो है ... अब तक सब कुछ यह,
यही तो करता आया हूँ मैं ।

किरण— बदला कुछ भी ?

अजय — बदले कैसे ? सुनता कौन ?
बस, वक़्त काटने हेतु
रेल के सफ़र में या
गरमी की दोपहरी में
झपकी लाने को—
जी बहलाने,
पलटा करते पन्ने लोग !
और दूसरे ही क्षण किसको
रहता तक है याद कहीं
"पारो" थी, या "चन्द्रमुखी" !

किरन — तो ?

अजय — साहित्य क्या है ? ... चाय की बस प्यालियाँ ज्यों
"सिप" किया, और चल दिये !
व्यवसाय या अध्यापकों, आलोचकों का ...
बला छात्रों की बनी है !
घोल घोल "गाईड़ों" में
"नोट्स" के मसाले से,
कड़ुवे-से घूँट पीने पड़ते हैं जिनको भी !

किरन — ... और, फिर ?

अजय — फिर, आ जाती दूसरी किताब कोई—
"ताज़ा अख़बार" !
देख "हैडलाइन" ही पटक
दिया करते हैं लोग बहुत—
ढूँढकर निकालते हैं, पिक्चर लगी है
कौन, कौन से थियेटर में !
कार्यक्रम टी.वी. पर क्या है
आज शाम ! पकड़ा गया है "स्मगलर" क्या ?
क्या हुआ "हाइजैकरों" का ?
तेज़ी-मन्दी के हाल चाल ...
छूट कितनी टैक्स में,
और फैशन की हवा क्या है ?
'वेकेंसी' होगी कहाँ मतलब की ?
खाली मकान या दुकान ही किराये की—
शास्त्रों की होड़ और लड़ाई
बेज़ुबानों की !
मिट्टी का तेल, गैस, चाकू, रिवॉलवर जो हो,
जान चली जाती है ...
पढ़ते हैं, देखते हैं, लोग सभी—
ढ़ेरों अख़बार छाँट बेचते हैं "रद्दी" में—

कागज़ के दाम भी तो चढ़ रह हैं
रोज़ ही !

किरण — लिखते ही रहे, फिर भी, तुम तो !
क्या कहने है ! मिला नहीं क्या कुछ तुमको तो !

अजय — हाँ, मिलता ही रहा !
बन चुकी फिल्में भी
ऐसी ही कहानियों पर;
"पद्मश्री" मिली है अभी ...
और क्या पाना मुझे अब ?

किरण — ... और ... बदला क्या ?

अजय — बदला ? .. बदला मैं ! मेरे हालात !
आज कार भी है, बँगले भी !
मिलता नहीं "ऐपॉइन्टमेन्ट" बिन,
वर्षों ही क्यों न लगें !
और नहीं आसान भी
"ऐपॉइन्टमेन्ट" मिल जाना ही !

किरण — क्यों नहीं ! बन गयी होगी बेचारी
सैक्रेट्री भी !

अजय — ख़ामोश ! बन्द करो बकवास !
जाने दो मुझको !

किरण — रोका था किसने अब तक ही ?

पर .... उत्तर नहीं दिया ....

पाया-है आख़िर तुमने कुछ क्या ?

अजय — "डिटैक्टिव" हो तुम भी क्या ?

माथा क्यों खा रही हो बिन वजह ?

किरण — डरो नहीं ... 'ब्लैकमेल' करूँगी नहीं ....

कह दो तो दिखलानी राह कौन

और किन्हें ?

अजय — राह चाहता है कोई ?

राहत ही मिलती रहे तो

लाख लाख शुक्र हैं।

किरण — मिलती राहत राह बिना भी ?

राह भटकने पर

राहत का बचता भर आभास ही, बस।

अजय — जो हो,

कुछ राहत मिल ही जाती है।

किरण — तुमको भी तो !

अजय — मुझको .... ? मुझको भी क्यों ?

किरण — तुमको भी, बस—

लाद अपनी कुण्ठा औरों पर,

मन बहलाकर, जोड़ जोड़ धन,

राहत ही तो पाते तुम भी !

भाड़ में जाये कोई, तुम्हें क्या ?
तुम्हे चाहिए किन्तु "कहानी" !

अजय — बन्द करो यह...
कौन हो तुम ? बोलो ! बतलाओ !

किरण — चिल्लाना छोड़ो ।
मुझे बुलाया था न तुम्हीं ने ?
किरण का क्यों
आह्वान किया था ?

अजय — ... राह खोजता हूँ कोई मैं... दूर यहाँ से, दूर निकल जाना है मुझको ।

किरण — दूर... दूर... भटकोगे कब तक
ऐसे ही तुम ?
थके नहीं क्या ? नहीं चाहते कुछ विश्राम ?

अजय — बहुत थका हूँ । नींद नहीं
आती अब तक क्यों ?

किरण — जागे थे कब ?

अजय — नहीं... नहीं !

किरण — क्यों ? साहस नहीं अभी तक
तुममे ? नहीं देख सकते
क्या निज को निरावरण ?
दौड़ रहे अपने से ही तुम !
कब तक दौड़ा किया करोगे ?

अजय — जाऊँ कहाँ ? करूँ मैं भी क्या ?

किरण — लौट आओ, मिल भी लो
अब तो, क्षण भर को तो !

अजय — किससे ?

किरण — बस, अपने से !

अजय — यह और पहेली ?

किरण — उत्तर है यह तो ... एक मात्र !
चलूँ मैं, अब ?

अजय — रुको .... रुको तो, ठहरो क्षण भर ।
बतला जाओ, हूँ मैं कौन ?
कहाँ जाना है ?
यहाँ हूँ क्यों ?
क्या था गुनाह,
यदि रहा हो कुछ, तो ।

किरण — याद करो ... क्रौंच-वध !
फिर खुद ही कर डाला
तुमने अपना भी वध !

अजय — झूठ .... ज़िन्दा हूँ मैं तो !

किरण — क्या जीवन को पहचाना ?
.... नहीं, कैसे तुम
पहचान भी पाते ?

अजय — दोगी जीवन ?

किरण — छीना था खुद ही से तुमने !
दे सकते हो तुम्हीं उसे, बस,
अपने को भी ।

अजय — कैसे ? क्या ? मैं स्वयं ? अकेले ?

किरण — नहीं अकेले थे तुम कविवर !

अजय — और सभी हैं कहाँ मगर तब ?

किरण — भुला दिया था सबको तुमने ।
याद करो तुम । याद करो !

अजय — कौन ? कौन हैं सहचर-सम्बल ?
पाऊँगा क्या फिर से उनको ?

किरण — निश्चय पाओगे, चाहो तो ।

अजय — कैसे हो विश्वास ?

(विश्वास का प्रवेश)

विश्वास — बुलाया मुझको ? मित्र कहाँ थे, इतने दिन ?

अजय — कौन हो तुम ?

विश्वास — नहीं पहचाना ? मैं विश्वास तुम्हारा ही !

अजय — विश्वास ?

विश्वास — कैसा यह निःश्वास ? मेरे रहते भी !

अजय — देर हो चुकी बहुत, मित्र ।

विश्वास — काल की सीमा होती है क्या ?
देगा फल भी काल स्वयं
मैं रहूँ अगर !
मर्यादा से उसकी ही तो
चलता रहता यह सृष्टि-चक्र ।
धैर्य बचा मेरे ही कारण
मित्र, न भूलो ।
मौन हो क्यों ? कुछ बोलो भी तो !

अजय — क्या तुम... क्या तुम नहीं
"कल्पना" कोरी ?

विश्वास — नहीं कल्पना । दर्शन हूँ मैं !
कभी कसौटी कस के देखो !
सिन्धु, तरे पाषाण, बने ये विमान
भी हैं, बस, मुझे ही से तो !
नहीं मानते क्या तुम भी
कल आयेगा, देखोगे तुम कल ?

अजय — पर, क्या निश्चय देखूँगा ही ?

विश्वास — फिर क्यों आख़िर यह वैभव-संपद ?
क्यों बैंकों के खाते-लॉकर ?

अजय — बड़े चतुर हो !

विश्वास — नहीं, अडिग हूँ ।

अजय — क्या चाहो तुम ?

विश्वास — मुझे न छोड़ो, भूलो मत
सम्बल हूँ मैं, अविचल, अचूक !

अजय — याद रहेगा ! धन्यवाद !

विश्वास — किसलिये ? तुम्हारा ही तो हूँ मैं !
हर साँस में रहने दो मुझको
घनघोर घटा, आँधी में भी—
तूफ़ान, अँधेरी राहों में
हूँ साथ तुम्हारे मैं, हरदम ...
बस, भूल न जाना तुम मुझको !
विश्वास हूँ, साथ न छोडूँगा,
हों लाख प्रलय !

अजय — (आश्वस्त हो) ... और भी हैं साथी कोई ?

विश्वास — "धैर्य" साथ मेरे ही है
और, बन्धु "आत्मबल !"
वक्त बदल कर रख दूँगा मैं !
देख ही लोगे, तुम भी मित्र ।

अजय — गद्गद् हूँ मैं, हुआ कृतार्थ ।
क्या दूँ तुमको ? अकिचंन हूँ !

विश्वास — नहीं, मित्र ! आराधक हो तुम,
शब्दों के ! सर्वस्व लेखनी ...

क्या कुछ तुममें नहीं ?
नहीं पहचाना अब तक !

अजय — अनुग्रह है, प्रसाद है, वह तो !

विश्वास— निश्चय !
प्रतिमा नहीं यह सामने
वीणा लिये !
पराशक्ति पहचानो, हे कवि !
आह्वान करो !
वैखरी में इनका
अर्चन तो करके देखो !

अजय — हट रहे हैं आवरण...
यह कौन ? सहमी-समुज्ज्वला,
सहजतम संवेदना-सी ?

(संवेदना का प्रवेश-परिधान-गेरुआ हाथ में अमृत-कलश ।)

संवेदना— भूल गये हो मुझको भी तुम !
हूँ वही-संवेदना ही !

अजय — ... पर, न सहमीं थीं कभी
तुम तो अभी तक !
क्या हुआ ? किसने तुम्हारी गति

यह की ?

बोलो तो ! कह दो मुझसे !

संवेदना— तुमही ने तो !

अजय — क्या.... क्या सुन रहा हूँ ?

संवेदना— सत्य है.... केवल तुम्हीं ने ।

छोड़ न पाये तुम मुझको

औरों की तरह, तो

बना लिया बस, दासी ही !

अजय — दासी ? तुम ? तुम.... संवेदने ?

संवेदना— हाँ.... सत्य सुन लो

आज तो तुम !

देखो तनिक अपनी तरफ़ !

निज स्वार्थ रक्षण-हेतु

क्या चुपचाप न घोंटा गला

मेरा तुम्हीं ने लाख बार ?

सम्मोहित-सा कर मुझको

ले जाते थे, ढ़ो-ढ़ोकर तुम तो

सजी-सँवारी भरी सभा मे !

पर मर न सकी अब तक मैं भी !

गहरी थी जड़ें मेरी भी तो !

मानवता के रक्षण-हेतु
रचा था मुझे विधाता ने !
पाला देकर सुधा-पान ....
मैं मर ही सकती नहीं कभी,
मत भूल से ऐसा मानो तुम !

अजय — क्षमा, देवि ! मुझको भी क्षमा दो !
जाने क्या होता गया मुझे ?
मैं खोता गया स्वयं ही को, प्रतिपल, प्रतिक्षण !

संवेदना— तुम क्या ... खोया है विश्व पूर्ण !
सबको अपनाती हूँ मैं तो,
बस, इसीलिये तो स्वार्थ-अहम्
धो हाथ पड़े हैं पीछे भी !
जहाँ हूँ मैं, वे ठहर नहीं सकते, पलभर !
कर मूढ़ हृदय मानव का
आहत करते रहते हैं, हर पल !
पर ... मर न सकी मैं,
मर न सकूँगी !
बाँटूँगी अमृत सब ही में !
चैन कहाँ मुझको भी है
जब तक यह थाती पास धरी है !

खोज रही थी पात्र !
सम्हालो तुम्ही इसे अब !

अजय — कर सकूँगा वहन अमृत ?

संवेदना — और करेगा कौन ? बताओ ।
यह अधिकार तुम्हारा है बस !
पहुँचा देना द्वार-द्वार ...
पट खोल लुटाना सुधा-कलश !
हर प्राण में सोयी तड़प रही मैं,
मुझे जिलाना बार-बार
पल-पल प्रतिक्षण !
मैं साथ तुम्हारे, भीतर भी
बाहर भी हूँ ...
झरनों में, फूलों में मैं हूँ,
पत्थर में भी —
पहचानो मुझको, हे कविवर !
क्यों भुला दिया यूँ ? बीते युग,
अब पुनः मिलन हो !

अजय — स्वागत हे संवेदने-संगिनि ।
छेड़ो स्वर ! प्यासा हूँ मैं,
दो सुधा-कलश !

संवेदना— दो वचन-लुटा दोगे सबकुछ !

अजय — मैं वचन-बद्ध हूँ, नहीं डिगूँगा !

(संकल्प का प्रवेश ।)

संकल्प — *धन्यवाद, कविवर ! शतवर्ष जियो,*
हो पूर्णकाम ।
पुण्यवान् हो, दिया मुझे फिर जीवन-दान !

अजय — *कौन हो तुम ? मैं नहीं जानता ....*
बतलाओ !

संकल्प — *भूल चुके थे मुझको भी तुम ।*
तभी कवच गिर गया तुम्हारा ....
कौन व्रती था, तुमसा कविवर ?
किसकी आँख मिली थी तुमसे ?
तुममें जागा तप था,
तुममे सहज त्याग था ....
आत्मदान करते थे हँसकर !
प्राणों का था मोह न तुमको !
कटा शीश तो क्या ?
यश, सत्य समुन्नत हुए तुम्हीं से !
तलवारें फिर चमक उठी थीं
धधक उठी थी ज्वालाएँ !
शीश झुके विजयी-लोलुप राजाओं के थे ....
पिघल उठे पाषाण हृदय !
दिग्विजय पताका झुकी

उठी लहराकर करुणा-धर्म ध्वजा !

नभ में कलश सूर्य बन दमके,

मस्ज़िद-गिरजाघर खड़े हुए,

विजय मिली पशुतल वृत्ति पर ...

सबने मिलकर हँसना सीखा,

गीत सजे, सुख-दुख बाँटे

सबने हिल-मिलकर !

अजय — बने न थे अणुबम तब तक तो !

वैज्ञानिक शस्त्रास्त्र कहाँ थे ?

संकल्प — था सब कुछ ही ।

दमन न था, ऐसा युग कब था ?

पर, न बिका था मानव ऐसे !

सर न झुके थे धन के आगे

आज झुके ज्यों !

प्राणों का भी भय किसको था ?

जीवित था तब मन्त्र हमेशा

"सत्यमेव जयते" का भी तब !

कायर है इन्सान आज,

बस, शोच यही है ...

शूर-वीर उठ गये धरा से !

अजय — सत्य है...
पर क्या तब कायर था न कोई ?

संकल्प — रहे बहुत...
पर नहीं सरस्वती का सुत कोई !
वाचा उनकी अग्नि रूप थी,
फलता था वरदान,
भस्म का ढेर बना देता था शाप !
बुद्धिजीवि अब रहा कहाँ ?
बस, कूटनीति ही हर जगह !
बिक रहा अब क्या नहीं ?
रो रही सरस्वती !
दम नहीं अब नेकी में...
मन की सच्चाई ने
मूँद ली है आँखे ही ।
निर्भय है भ्रष्टता,
सोच भी सकता कोई ?
याद ही किसको रही...
युग पुरुष अकेले ही होते
आये हैं, नित्य, सदैव !
राह खोजना है साहस का काम आज...
सर कटवाने की हिम्मत ही तो रही नहीं !
क्या होगा मेरा

और इन बच्चों का,
सोच यही है रातों दिन !
प्रभु की है ही याद किसे ?
सृष्टि चलाती तो शक्ति है
और कोई....
दुःशासन, दुर्योधन को भी
मिटना ही पड़ता है एक दिन !
क्यों भूल गये, हरि वचन नित्य
"न हि कल्याण कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति !"

अजय — लौट सकेगा
पुनः कभी वह युग भी भू पर ?

संकल्प — निश्चय ! लौटा सकते हो,
बस, तुम ही !

अजय — मैं.... मैं.... कैसे ?
कैसे मैं अकेले ?
संभव है क्या यह भी तो ?
कैसे हो विश्वास ?

विश्वास — अभी यहीं हूँ, मित्र,
न भूलो !
गया नहीं मैं... करो विदा मत !
युग बीते हैं, लौटा ही हूँ आज,

साथ छोड़ूँगा क्योंकर ?
भूल रहे क्यों तुम फिर मुझको ?

अजय — क्षमा मित्र ! फिर भूल न होगी !

संवेदना— भूलो मत कविवर
मैं भी हूँ साथ तुम्हारे !
नहीं अकेले रहे कभी तुम;
और जागते रहे अगर तुम
इसी तरह, तो कौन
छोड़ सकता है तुमको ?

अजय — संवेदने, कृतार्थ हुआ मैं।

संवेदना— नहीं, अकेली मैं,
"प्रज्ञा" भी साथ हमारे ....
इसका भी सन्देश सुनो तुम !

(प्रज्ञा का प्रवेश, नील परिधान)

प्रज्ञा — नव-परिवेश, नयी प्रतिभाएँ
पर कुण्ठित क्यों ?
प्रश्नचिन्ह अनगिनत हुए,
उत्तर पर मिलता नहीं
अभी क्यों ?
नयी रूढ़ियाँ जन्म ले चुकीं
इनको भी झकझोरो अब तो !

तोड़ो, खोजो, कलाकार—
निर्माण करो !
बहुत हो चुकी विनाश-लीला !
नहीं बचेगा कहीं कोई
यदि ज्योति नहीं जग पायी तो !
मानवता मिट चुकी ....
प्रलय क्या बाकी है अब ?

संकल्प — तुम ब्रह्मा हो, प्रजापति हो
नूतन सृष्टि रचा सकते हो !
सदा साथ संकल्प तुम्हारे !
याद नहीं है ? गीत सुनोगे ?
कभी रचा तुमहीं ने
तो था ।

अजय — कौन गीत वह ?

(सभी सम्मिलित गाते हुए)

"साथ देगा सत्य ही बस
मत मनुज के रह भरोसे,
जाग अगर इन्सान है तू,
बढ़ता चल प्रभु के भरोसे !
चलता चल, हरि के भरोसे !
ढ़हकर रहेंगी ये मीनारें—

साथ छूटे जायेंगे ....
मालो-धन के सब ख़ज़ाने
पल में लूटे जायेंगे ।
मन की आँखों को तो खोलो,
मत रहो, जग के भरोसे !
साथ देगा सत्य ही बस
मत मनुज के रह भरोसे !"

(संकल्प, संवेदना, प्रज्ञा, किरण, विश्वास सभी अजय की ओर अपलक आशापूर्ण दृष्टि से देखते हैं । ऋचा का पुनः प्रवेश ।)

ऋचा — देख रहे हो क्या तुम, बन्धु ?
लगी सभी की आँखें तुम पर,
वर्षगाँठ है आज तुम्हारी !
बुद्धिजीवी खो गया अगर
क्या रहा बचा धरती पर फिर !
नहीं निराश करो हम सबको !

अजय — स्वप्न तो नहीं देखा मैंने ?
सत्य, साथ क्या तुम सब मेरे ?

ऋचा — स्वप्न ? स्वप्न तो सृष्टि ही है ....
स्वप्न वे, जो सत्य को
रखते हैं, जीवित,

शिवत्त्व का सन्देश देकर

मिट नहीं सकते कभी !

विश्वव्यापक सूक्ष्म ऊर्जाएँ सभी

प्रबलतम, तेजस्विनी ...

रहती हैं उद्यत

मूर्त करने को उसे ।

खोज, बस रहती तो वाहक ही की है—

शून्य बन सकता हो जो !

अजय — *क्या सचमुच ही हूँ*

समर्थ में ?

ऋचा — *पहचानो अब तो, निज को !*

हाँ, तुम ही तो हो,

बस, तुम ही हो !

लक्ष्मी के गुलाम लाखों हैं,

पर, शारदा-तनय कितने हैं ?

अखिल सृष्टि है साथ तुम्हारे !

नहीं अकेले रहे कभी तुम ...

सूर्य अंश हो !

हुआ विहान, अरूण है अम्बर !

उठो, सहोदर ! दीप जलाओ !

अजय — *अग्नि कहाँ है, ऋचा बहन ?*

ऋचा — शान्त बन्धु। एकाग्र-चित्त हो।
ध्यान धरो!
देखो निजको....
रोम-रोम हो पावकमय तुम!
चिद्स्वरूप हो!
नहीं देह यह
पंचभूत-कृत!

अजय — स्वस्थ हुआ हूँ
ऋचा बहन।
बोलो, क्या उपहार तुम्हें दूँ?

ऋचा — आज मिला क्या नहीं
मुझे भी?
जाओ वीर,
जगाओ जन-मन!
विजय तिलक लो!
सदा अजय हो!

सभी — सदा अजय हो!
सदा अजय हो!
सदा अजय हो!

(पटाक्षेप)

तृतीय दृश्य

(दृश्य—हिमालय के शिखरों पर घनघोर घटा-आँधी, विद्युत-गर्जन। अस्त-व्यस्त दशा में अजय का प्रवेश।)

अजय — *तिमिर सघन है प्रलय काल का,*
ताण्डव ही तो गरज रहा है !
दिशा न कोई सूझ रही है. . .
स्वार्थ-दम्भ की विनाशलीला
प्रलय-रूपिणी विलासिता के
मोह-जाल में !
मैं हार गया पथ दिखलाकर. . . .
कोई न समझ पाया मुझको ।
जिन राहों पर फूल बिछाये
काँटों के हार मिले उन्हीं से !
कोई हँसा, किसी ने दी गाली
कोई जान का दुश्मन बन बैठा—
कोई बना उपासक यदि छवि का,
मुँहफेर निकल भागा कोई !
शेष स्पन्द किसलिये अभी हैं ?
बतलायेगा कौन मुझे भी ?
अभी शेष है पथ कितना ?
मैं मानवता के हेतु जिया,

मानव न मुझे पहचान सका ।
मैं "मानव" हूँ किसने जाना ?

(आलोकित प्रदीप लिये ऋचा का प्रवेश)

ऋचा — धैर्य, बन्धु । क्यों भूल रहे फिर ?
देखा है सब कुछ मैने भी
साथ तुम्हारे ।
इन आँखों के आँसू
बहते रहे सदा मेरे भी दृग से !
यह युग,माना, कुछ ऐसा ही है,
किन्तु नहीं युग ही के तुम तो !
स्पन्द तुम्हारा देशकाल से ऊपर है नित !
शाश्वत हो तुम !
समझेगा मानव, मानव जब होगा
धरती पर !

अजय — बस, यही एक स्थल....
मिलता यहीं मुझे विश्राम ।
पा लेता हूँ फिर अपने को
पलभर यहीं लौट आने से !
कबतक सहते जाना होगा ?
राह देखना कितना शेष ?

हार चुका हूँ,
थके चरण हैं !
पलकें भी अब मुँदती जातीं,
अब न कण्ठ में स्वर बाकी है....
थमी लेखनी, आहत होकर !
नहीं देख सकता अनीति
जिसके भी सँग हो !
सबका दुःख मेरा ही दुःख है !
देख चुका हूँ शिखर धवल ये
कैसे सहूँ पतन मानव का ?
क्या खोजा था, क्या पाया है !
अन्धी दुनियाँ दौड़ रही है,
कहाँ जानता कौन, किसे है ?
होड़ लगी, है, धन की, जन की,
कौन चाहता है रूकना,
अवलोकन करना,
पलभर को भी ?
कहीं नहीं संगीत,
सुरूचि का नाम नहीं है !
क्या होगा परिणाम,
बचेगा धरती पर क्या ?
मौन, मेरे स्वर हो जाओ अब....

ऋचा — इतनी घोर निराशा ! क्योंकर ?
कहाँ तुम्हारे संगी, सहचर ?

अजय — छूट गये सब. . . .
सबने हार मान ही ली अब !
काँप उठा विश्वास,
सहारा ढूँढ रहा संकल्प कोई !
किरण न जाने छिपी कहाँ
कबकी अब तक क्यों ?
पथरायी आँखों से स्पन्दित
संवेदना बची है केवल
स्पन्द मेरा बन !
जर्जर हुई प्रज्ञा, कुण्ठित हो,
सबका उस पर ही प्रहार था—
मिल न सका संजीवन उसको !
वह भी कराहती
पड़ी हुई दम तोड़ रही है !
सबका सम्बल मिला मुझे
मैं दे पाया फिर भी, किसको क्या ?
मेरा न कहीं अस्तित्व रहा,
जिसने जैसा चाहा, जाना मुझको ।
जिसको दर्द सुनाना चाहा,

पाया उसको ही एकाकी
निज से बढ़कर ।
बहुत देखता रहा,
सहा सब कुछ ही मैंने !
खोज रहा प्रतिस्पन्द . . .
अभी कितना मुझको चलना होगा ?
बहुत थका हूँ-
बहुत चाहता हूँ विश्राम !

ऋचा — पाओगे विश्राम, सहोदर,
नवजीवन के आ जाने पर !
कर्म तुम्हारा पूर्ण हुआ है,
पाओगे फल भी निश्चय, अब
बहुत शीघ्र !

अजय — इतना थक जाऊँगा
सोचा कभी न मैंने !

ऋचा — यह भी तो अविचल ही
गति है ।
एकाकी कवि होता ही है !
जग में रहकर,
जग-सा हो पाता न कभी वह !
अन्तर के अनन्त रत्नों का

आराधक वह, निर्निमेष !
वह उत्तुगं शिखर का प्यासा,
हंसों का सहचर,
विवेक-मुक्ता-रत नित वह !
फिर भी रज से नाता
जोड़े रहता है
अटूट, अविचल, अगाध !
कवि का पथ
अंगारों की लपटों ही से
आलोकित प्रतिपाल !

अजय — बहुत सुखी था....
भाग्यवान् था....
मिलता रहा सदा मुझको
अमृत का स्त्रोत
हृदय ही में नित !
सन्देश मिले सरिताओं से,
खग कह जाते थे गाथाएँ
अनन्त की मुझको !
श्रम हरते थे विटप
स्नेह से !
तृप्त किया करते रहते थे

दीप्तिमान् ये शिखर अलौकिक !
शब्द पर मैं प्राण देता
शब्द मुझमें प्राण भरते,
शब्दमय अस्तित्व मेरा
शब्द को मैं चिर-समर्पित !
मैं विराट की झूमती
गहराइयों को चिर-समर्पित ।
नाद मुझमें झूमता....
मुझको धरा से दूर करता !
मैं अकेला ही सदा!
पर विश्व था मुझमें समाया !
आराधना की आरती
उर में सजाये,
मनुजता के स्पन्द के
कुछ गीत गाये....
स्वप्न हो चुका सबकुछ, अब तो —
ज्वाला अब भी धधक रही है,
किन्तु मेघ की श्यामलता बन !
लौट सकूँगा फिर स्वदेश ?
आलोक-ज्योति नर्तन देखूँगा ? नाच उठूँगा मैं विभोर हो ?
बोलो, बहन ऋचा,
बोलो, बतला भी दो तो !

ऋचा — जो भी चाहोगे
पाओगे, निश्चय ही तुम
सार-भरा, बस !
निस्सार से नाता
टिक न सकेगा ।
टूटोगे, आहत हो जाओगे. . .
पुनः लौटकर आना होगा
इसी द्वार तक, नित्य, सदैव !
पाओगे आलोक—
ज्योति की प्यास जगी है
अन्तर्मन में !
आओ, बढ़ना होगा तुमको,
चलना होगा कुछ कदम और !
आलोक नहीं मिलता ऐसे ही,
मूल्य चुकाना पड़ता है, कुछ !

अजय — प्रस्तुत हूँ मैं,
दिखलाओ पथ !
ले चलो जहाँ आलोक-ज्योति
क्रीडा-रत हैं नित !

ऋचा — मूँदो दृग,
अन्तर में झाँको

खोजो अपने ही में अब तुम।
बोलो, क्या देखा है तुमने ?
नव-आभा से दीप्त हुए तुम,
तेजोमय !
अविरल-प्रवाह सौरभ कोई
ज्यों सुधा-सिक्त
बहता तुममें हो !
स्निग्ध हुए हो किससे, इतने ?
बोलो, अजय, कहो क्या पाया ?
बोलो, क्या देखा है इस क्षण ?
बोला भैया, बोलो भी,
कहदो मुझको तो !

अजय — ऋचा बहन,
छेड़ो मत मुझको !
शान्त हुआ हूँ—
अभी और रस ले लेने दो....
कब फिर ऐसा योग मिलेगा ?

ऋचा — लीन हुए हो
निज अन्तर के परम सत्य में !
भाग्यवान् हो !
और गहन गति होगी

अब तो ।

छू लेगा आलोक तुम्हें

तारक-सा बनकर

दिग्दिगन्त से !

लय-स्वर-ताल,

अखिल सर्जन गति

स्थिति-आभास जान लोगे तुम !

खो जाओगे,

पा लोगे जब....

लौटाना होगा फिर तुमको

पुनः धरा पर

पूर्ण जगाकर !

(पटाक्षेप)

चतुर्थ दृश्य

(वही दृश्य-अजय शान्त समाधिस्थ बैठा है । फिर, धीर से, बहुत धीरे से आँखें खोलता है ।)

अजय — *यह स्वप्न कैसा*
जागकर जब नींद की भी
स्मृति नहीं है ?
यह दृश्य परिचित, किन्तु
फिर भी, क्यों नया-सा
लग रहा है ?
मैं कहा हूँ ?
कहाँ मैं अब तक रहा ?
श्वास थमकर भी
सहज-सा चल रहा है !
रूक गया है या कहीं
अविराम क्षण यह,
निर्निमेष
अनन्त होकर ?

ऋचा — *सत्य जाना । स्वस्थ हो अब !*
खोल दो, हलके-से
अपने स्मृति-पटल भी—
पहचानते हो, इस ऋचा को ?

अजय — ऋचा ! बहन !
थीं कहाँ तुम भी अभी तक !

ऋचा — काल ही तो थम गया था !
मैं गयी ही थी कहाँ
जबसे मिला अस्तित्व तुमको ?
मैं तुम्हारा स्पन्द हूँ
भूलो न भैया !
उठो, अब फिर लौटना होगा
धरा पर—
जग प्रतीक्षा कर रहा
कब से तुम्हारी !

अजय — इस धरा की गन्ध से
महके सदा मेरे सभी स्वर !
चेतना की प्यास
गीतों में समायी !
हूँ फैलता ही जा रहा...
मैं खो गया जाने कहाँ ?
दर्द मन का, हर किसी का
दर्द मेरा बन गया है—
सबसे जुड़ा हूँ,
किन्तु हूँ सबसे अकेला !

राग से, अनुराग से
रस-सिक्त होकर
मैं स्वरों को नित सजाता जा रहा !
मैं बनाने विश्व को संगीतमय,
स्नेह-स्पन्दों से सजाता जा रहा !
इन्द्रधनु ही मैं डुबो कर तूलिका
चित्र नित-नूतन बनाता जा रहा !
गति की आहट पायी मैंने
एक बार नहीं...सौ बार,
किन्तु, जग से मेरी गति
भिन्न रही !
लहरों से जुझा हूँ,
तट पर रहकर स्थित
देखा है अनन्त विस्तार...
रूप-गति-भाव तरंगों का व्यापार !
मौन का स्पन्द सुना है !
नाच उठा है मन विभोर हो
कभी कहीं !
कहीं तुमुल-ध्वनि, मारू राग,
शस्त्र टकराते भी तो देखे हैं
इन नयनों ने !

सर्जन, लालन, मधु-सा ममत्त्व
आहत उर का निःशब्द विलाप. . .
तिमिर में स्थित जलती लौ देखी है !
हँसता देखा बलिदान !
सभ्यताओं के खण्डहर
संस्कृतियों के ध्वंस-शेष !
सिमटे मानव का नग्न रूप
तख़्त-ताज़ों के आडम्बर
के बीच !
मानवता के पावनतम क्षण भी
जाग रहे हैं अन्तर में नित !
जो सर न झुका, देखा मैंने,
जो उठ न सका, सच के आगे
वह भी देखा है !
देखा है गहन सत्य मैंने
अविनश्वर, शाश्वत मूर्त सदा,
मैं जिया सदा निज तुष्टि हेतु
जग ने जो चाहा, कहा सुना !
अनिकेत सदा, अवलम्ब रहित,
मैं चलता रहा तिमिर में भी
आलोक लिये अन्तर्घट का !

काँटों ने स्वागत किया कभी,
अंगारे दहक उठे बरबस
बढ़ते कदमों की आहट से !
मैं रूक जाता कबका, लेकिन
अज्ञात कोई कर लिये चला
थामे मुझको !
मैं नही खोलता मुख
लेकिन मुझसे कहलाता हैं कोई,
हर अन्तर में जो जाग रहा !
वह कौन जगा रहता सदैव ?
तुम जान रही हो
तो कह दो !

ऋचा — विभु ही के हो अंश
बन्धु, तुम ।
विभु से नित-नव सम्बन्ध रहा. . .
विभु का सन्देश सुना जाते
आदेश वहन करते रहते
उसका ही तो तुम !
तुम तेजोमय !
आलोक-ज्योति
रमते रहते नित अन्तर में. . .

अवतंस मनुजता के सजीव तुम,
स्पन्द रूप तुम, शाश्वत हो तुम !
अनुभूति-क्षेत्र सम्पूर्ण स्पर्श कर
लौट रहे अब बिन्दु-रूप हो,
सार्थक कर अस्तित्व आज निज !
देश-काल की सीमाओं को
लाँघ चुके हो !
नहीं कभी एकाकी, तुम तो
नित-प्रवाहमय !
तुम वंशी के छिद्र रूप
गूँजा करते विभु श्वासों में !
तुम धन्य, तुम्हारा रूप धन्य,
स्वर धन्य तुम्हारा नित्य-नवल !
बहते आँसू भी धन्य तुम्हारे
हास्य तुम्हारा धन्य, धन्य !
तुम आरती अनन्त सजाये
तुम अँजुलि के झरते फूल !
मधु-रस अखिल समाया तुममें-
सुरभि अखण्ड बिखेर रहे हो,
नाद-रूप तुम, नित्य निरन्तर
निर्निमेष जागृत चेतन हो !

अवनि तुम्हारे लिये ललकती
किन्तु समेटे तुम्हें कहाँ तक ?

अजय — मैं आनन्द लोक का वासी,
मेरा स्पन्द सूक्ष्म आलोकित !
मधु-अन्तर-लय-ताल
नाद-स्वर
नित-नूतन रस, विभु अनुरंजित !
विभु के हृदय के गीत का
मुखरित् अलौकिक रूप हूँ मैं—
रूचिर-प्राण गगन विलय का
ऊर्ध्व आकुल रूप हूँ मैं !
लघु-पात्र, करता हूँ वहन
मैं तो अनन्त की मधुरिमा—
मोहिनी मुरली, मनोहर यामिनी
यमुना-पुलिन मधु-चन्द्रिका !
मैं समूर्जित, मैं समर्पित
मैं विसर्जित चेतना....
राग-रंजित, नित्य-स्पन्दित
मैं मधुरतम रस-सुधा !

ऋचा — यज्ञ सफल है
आज सृष्टि का !

पावन क्षण है,
लौट चलो अब–
गीत बनकर व्याप्त हो जाओ
अवनि पर...
गगन की गहराइयों की थाह लेकर
झूमते नित प्राण नूपूर !
तुम सृष्टि के संग,
सृष्टि तुम में
बह उठे संगीत बनकर...
शिवत्व की फिर हो विजय—
सार्थक रहो तुम नित अजय !
अविचल रहो तुम, हे अजय !
भैया मेरे तुम, हे अजय !
विजयी सदा हो, तुम अजय !

इति

परिचय
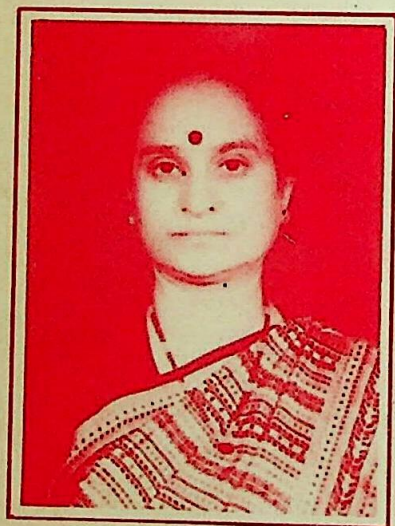
डॉ. श्रीमती श्वेता खन्ना काशी हिन्दु विश्वविद्यालय के प्रौद्योगिक संस्थान में अंग्रेजी विभाग में कार्यरत हैं। बम्बई में शिक्षित डॉ. श्वेता खन्ना का शोध प्रबन्ध काशी हिन्दु विश्वविद्यालय में ही प्रस्तुत किया गया, एवम् The Occult in Shakespeare with Special Reference to Astrology प्रकाशित भी हो चुका है। नृत्य-नाटिका "वेणु" 'चिन्तन' में, तथा "सगुणोपासना—भारतीय दृष्टि की अनुपम उपलब्धि" 'कल्याण' में प्रकाशित हुए हैं। काव्य तथा नाटक के अतिरिक्त चिन्तन-प्रधान लेखन इनकी विशेष अभिरुची रही है। ऐसे ही कई लेख 'आनन्द वार्ता' में प्रकाशित हुए हैं। दो कहानियाँ "अँधेरा" तथा "खिलते रहें सूरज-मुखी" 'नवभारत टाइम्स्' में भी प्रकाशित हुई हैं।